आलोचनात्मक अध्ययन

तुलसीदास

भारतभूषण 'सरोज'

तुलसीदास

[आलोचनात्मक अध्ययन : प्रश्नोत्तर में]

संशोधित एवं परिवर्द्धित आठवाँ संस्करण

लेखक

श्री भारतभूषण 'सरोज' एम० ए०

विनोद पुस्तक मन्दिर

हॉस्पिटल रोड, आगरा-३

प्रकाशक :

विनोद पुस्तक मन्दिर

हॉस्पिटल रोड, आगरा–३

आठवाँ संस्करण

सन् १९६६

मूल्य : २·५०

मुद्रक :

हिन्दी प्रिन्टिङ्ग प्रेस

डा० रांगेय राघव मार्ग, आगरा

आभार

भक्त-प्रवर महाकवि गोस्वामी तुलसीदास के विषय में इस पुस्तक को लिखते समय अनेक महान विद्वानों की रचनाओं से पूरी-पूरी सहायता ली गई है। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के लेखों से भी पर्याप्त सहायता मिली है। लेखक उन सभी पुस्तकों तथा लेखों के लेखकों का आभारी है जिनकी रचनाओं से किसी भी प्रकार की सहायता ली गई है।

प्रिय शीलारानी तनेजा को उसकी सहायता के लिए मैं हृदय से आशीष देता हूँ।

रामजस कॉलेज, दिल्ली।
तुलसी जयन्ती सं० २००७

भारतभूषण 'सरोज'

संशोधक की बात

'तुलसीदास' प्रश्नोत्तरी का आठवाँ संस्करण आपके सामने है। प्रस्तुत प्रश्नोत्तरी की उपादेयता तो इसके एकाधिक संस्करण द्वारा ही सिद्ध हो जाती है। इस संस्करण में यथास्थान मुद्रण की अशुद्धियों को दूर करने की तथा कुछ पहले प्रश्नों में विषय की आधुनिक प्रगति सम्बन्धी तथ्यों को जोड़ देने की चेष्टा कर प्रश्नोत्तरी को सर्वांगपूर्ण बनाया गया है। इस प्रयत्न में कहीं-कहीं अन्य लेखकों के 'मैटर' का भी उपयोग किया गया है तथा कहीं-कहीं संशोधक का अपना भी विवेचन है। कुछ अन्य आवश्यक प्रश्न भी आकलित कर दिए गए हैं। अन्य नवीन प्रश्नों के उत्तर तथा सम्वर्द्धित उत्तरांशों में सर्वत्र यही ध्यान रखा गया है कि वे पुस्तक के मूल लेखक की विचार-परम्परा से पृथक् न हो पाएँ।

आशा ही नहीं एवं विश्वास है कि यह संशोधित, परिष्कृत एवं परिवर्द्धित संस्करण विद्यार्थियों एवं इस विषय के अन्य अध्येताओं के लिए विचारणीय एवं लाभप्रद होगा।

—संशोधक

विषय-सूची

प्रश्नोत्तर

प्रश्न १—"हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल के उदय में पूर्ववर्ती एवं तत्कालीन परिस्थितियों का प्रमुख योग रहा था" विवेचन कीजिए।

उत्तर—साहित्य की किसी भी धारा के उदय में पूर्ववर्ती एवं सामयिक परिस्थितियों का प्रमुख योग रहता है। कोई भी नवीन साहित्यिक धारा अपनी पूर्ववर्ती परिस्थितियों से प्रभाव ग्रहण कर अपने समकालीन-युग की नवीन परिस्थितियों के अनुरूप अपना रूप धारण करती है। हम भक्तिकाल के स्वरूप निर्धारण में भी इन्हीं दोनों प्रकार की परिस्थितियों का योग और प्रभाव पाते हैं। भक्तिकाल हिन्दी-साहित्य का स्वर्ण-काल माना जाता है। इस काल के साहित्य में भक्तों, रहस्यवादियों, यथार्थवादियों, आदर्शवादियों, प्रगतिवादियों आदि सभी को अपने-अपने मतलब की यथेष्ट सामग्री मिल जाती है। इसी कारण सभी इस युग की महत्ता को मुक्त कंठ से स्वीकार करते हैं।

भक्तिकाल के उदय के कारण :

भक्तिकाल में आरम्भ में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो चुकी थीं जिनसे प्रभावित होकर काव्य का क्षेत्र बदल गया था। उत्तर भारत में मुसलमानों का राज्य स्थापित हो जाने से वीर-गाथाकालीन वीर और श्रृंगार की भावना क्रमशः मन्द पड़ती हुई लुप्त हो गई। विधर्मी शासक (मुसलमान) अपने राज्य को दृढ़तर बनाने तथा अपने नए धर्म इस्लाम का प्रचार करने के लिए जनता पर अत्याचार करने लगे। हिन्दू रजवाड़ों के नष्ट हो जाने से कवियों का राज्याश्रय समाप्त हो गया। अतः कविता को राज दरबारों से हटकर विरक्त साधु-सन्तों

की कुटिया में आश्रय मिला और समस्त वातावरण भगवान के कीर्तिगान से ध्वनित हो उठा। भक्ति की इस धारा को प्रबल रूप से उभरते हुए देखकर हमारे साहित्य के अनेक विदेशी अध्येता आश्चर्यचकित हो उठे हैं। उनकी समझ में यह नहीं आया कि भक्ति की यह प्रबल धारा एकाएक कैसे उद्‌गमित हो उठी थी। इसे देखकर ईसाई लेखक जार्ज ग्रियर्सन ने अनुमान लगाया है कि इस भक्तिधारा पर ईसाइयों की भक्ति-भावना गहरा प्रभाव पड़ा है और उसी प्रभाव के फलस्वरूप भारत में यह धारा उत्पन्न हुई थी। परन्तु ग्रियर्सन का यह अनुमान कितना आधारहीन और भ्रामक था, यह इस बात से प्रकट हो जाता है कि उस समय तक उत्तर-भारत में कोई ईसाई धर्म को जानता तक न था। ग्रियर्सन की इस भ्रान्ति का कारण यह था कि उनका भारतीय विचार-परम्परा, संस्कृति और धार्मिक-विकास का अध्ययन शून्य था। इसी कारण वह इसका मूल उद्‌गम ढूँढ़ने में असमर्थ रहे थे। अब अनेक भारतीय विद्वानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि यह नवीन-सी प्रतीत होने वाली भक्ति-धारा, भक्ति की उस अविच्छिन्न परम्परा का ही विकसित रूप था जो शताब्दियों से कभी दबती और कभी पुनः उभरती हुई चली आ रही थी। भारतीय आध्यात्मिक काव्य की धारा जो वीरगाथाकालीन संघर्षपूर्ण अशान्त वातावरण में दब सी गई थी, देश में मुसलमानी-साम्राज्य की स्थापना के उपरान्त शान्त वातावरण पाकर पुनः उभर आई थी।

एक और भ्रामक धारणा :

भक्तिकाल के उदय होने का एक दूसरा कारण यह बताया जाता है कि जब नए मुस्लिम-शासक हिन्दुओं पर अत्याचार करने लगे तो हिन्दू असहाय और निराश होकर उस दीन-रक्षक भगवान से अपनी रक्षा और उद्धार करने की प्रार्थना करने लगे। इसका अर्थ यह हुआ कि भक्ति की यह धारा उन्हीं अत्याचारों के कारण उत्तर-भारत में उत्पन्न हुई थी। ध्यान से देखने पर यह तर्क नितान्त निराधार प्रतीत होता है। क्योंकि जब उत्तर-भारत में हिन्दुओं पर धार्मिक और राजनैतिक अत्याचार हो रहे थे उस समय निरापद और शांत दक्षिण-भारत में भक्ति की अबाध धारा प्रवाहित हो रही थी। वहाँ वैष्णव-

; पनप रही थी । दक्षिण के आलवार भक्त प्रभु के लीलागान में व्यस्त थे । ार उत्तर-भारत में पौराणिक शास्त्र का आधार लेकर भक्ति-भावना का ार किया जा रहा था । यहाँ की जनता विष्णु के विभिन्न अवतारों की ासना करती थी । साधारण जनता स्मार्त मतावलम्बी थी । नाथ-पंथियों का धर्म भी काफी प्रभावशाली था । परन्तु इन सब में विष्णु के अवतारों पर ास करने वाली भावना का विशेष प्रभाव पड़ा । सगुण-भक्ति के मूल में ार की कल्पना प्रमुख थी । हमारी इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण यह है हमें सम्पूर्ण भक्ति-साहित्य में कहीं भी मुसलमानों द्वारा हिन्दुओं पर किए े वाले अत्याचारों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कैसा भी उल्लेख या रूप नहीं ता । इसलिए यह कहना नितान्त निराधार है कि यह भक्ति-धारा मुस्लिम-ाचारों की प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न हुई थी और न इसके जन्म और ास में किसी विदेशी भक्ति-धारा का ही कोई प्रभाव कार्य कर रहा था ।

न्दुओं का आन्तरिक वैचारिक संघर्ष प्रधान कारण था :

वस्तुतः इस भक्तिधारा के मूल में हमें जिस सामाजिक और वैचारिक र्ष की छाया दिखाई पड़ती है, वह संघर्ष हिन्दू-मुस्लिम विचारधाराओं का र्ष नहीं था । वह संघर्ष था हिन्दू-समाज की ब्राह्मण आदि उच्च वर्ण की तियों तथा निम्न वर्ण की शूद्र आदि जातियों के बीच । वस्तुतः इसे हम दुओं का आन्तरिक जातीय संघर्ष मानते हैं । भक्तिकाल के पूर्वार्द्ध में हम ो संघर्ष का प्रबल रूप पाते हैं । निम्न वर्ग की जातियाँ उच्च वर्गीय जातियों धार्मिक-सामाजिक संकीर्णताओं, आडम्बर, पक्षपात आदि के विरुद्ध विद्रोह ती दिखाई पड़ती हैं । कबीर आदि सन्तों का काव्य इसका प्रमाण है । लिए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उस युग में भक्ति की धारा उच्च वर्ग सङ्कीर्ण-सीमित घेरे के बन्धनों को ध्वस्त कर जनसाधारण में व्यापक रूप विकास पा रही थी । अब प्रश्न यह उठता है कि उस काल में ही यह विद्रोह-ाक धारा इतनी व्यापकता क्यों पा सकी ? इसका उत्तर तत्कालीन परिस्थि-ाों का अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है । भक्ति के इस विकास में कालीन विभिन्न परिस्थितियों का गहरा प्रभाव रहा था ।

सामाजिक परिस्थिति :

उस युग में सामाजिक क्षेत्र में दो संस्कृतियों और विचारधाराओं का परस्पर संघर्ष चल रहा था। हिन्दू संस्कृति अपनी पूर्णता और समृद्ध प्राचीनता का दम्भ लिए प्राणपण से अपनी अस्तित्व-रक्षा का प्रयत्न कर रही थी और उधर नवीन धार्मिक-उन्माद से ओतप्रोत मुस्लिम संस्कृति हिन्दू संस्कृति पर हावी हो इस्लाम के बलात् प्रचार द्वारा इस देश में अपनी जड़ें जमाने की कोशिश में लगी थी। इस संघर्ष के कारण हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य और घृणाभाव को प्रोत्साहन मिल रहा था। रक्षा की भावना के कारण उच्च वर्ग के हिन्दुओं ने अपने सामाजिक बन्धन दृढ़ कर दिये थे। इन सामाजिक बन्धनों के कारण उत्पन्न सङ्कीर्णता ने धार्मिक भावना को गौण बना दिया था। हिन्दुओं के सामाजिक बन्धन इतने संकीर्ण हो उठे थे कि उस समाज में शूद्रों, अन्य निम्न जातियों तथा नारियों को धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टि से पूर्ण बहिष्कृत-सा कर दिया गया था। उदार-चेता विचारकों और प्रतिभाशाली कवियों को संकीर्णता अखरने लगी थी। रामानन्द आदि विचारकों ने इसका विरोध कर भक्ति का द्वार मानव मात्र के लिए उन्मुक्त कर दिया था। कबीर आदि विचारक प्रतिभाशाली कवियों ने शुद्ध आध्यात्मिकता के बल पर, जिसमें शास्त्रों का कोई बन्धन स्वीकार नहीं था, इस संकीर्णता को दूर करने का प्रयत्न किया। इसके लिए कबीर ने एक नवीन-सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना का पौरोहित्य किया।

इस चेतना का आदि-स्रोत सर्वथा नवीन नहीं था। प्राचीन काल में बौद्ध-धर्म के उदय के साथ ही उच्च वर्गीय सामाजिक व्यवस्था एवं धार्मिक संकीर्णता और अत्याचारों के प्रति विद्रोह की भावना का जन्म हो चुका था। रूढ़ि और प्रगति की क्रिया-प्रतिक्रियाओं के साथ संकीर्ण और उदार होती हुई यह भावना जनजीवन-प्रवाह के साथ बहती चली आई थी। कबीर ने इस भावना में आत्म-विश्वास की दृढ़ता फूंकी, उसे संकीर्णताओं से मुक्त किया और निम्न जातियों में व्याप्त हीनता की भावना को दूर कर समता की दृष्टि प्रदान की। इस प्रकार विशुद्ध मानवता के आधार पर एक नवीन संस्कृति का जन्म हुआ। कबीर आदि सन्तों को इस पावन-प्रयत्न मे हमारे सूफी-कवियों ने भी अपना पूर्ण योग दिया। उन दोनों ने मिलकर हिन्दू-मुस्लिम-संस्कृति एवं धार्मिक भावना में

समन्वय और सन्तुलन लाने का प्रयत्न किया। इनके इस नवीन एवं सराहनीय प्रयत्न के कारण हिन्दू-मुस्लिम विचारधाराओं के समन्वय से निर्गुण उपासना की एक ऐसी पद्धति सामने आई जिस पर अनेक प्राचीन और नवीन धार्मिक मत-मतान्तरों, वादों और विचार-धाराओं का प्रभाव था। हिन्दी-साहित्य का यह जागरण काल था और कबीर इसके अग्रदूत थे।

धार्मिक परिस्थिति :

धार्मिक क्षेत्र में हिन्दू-धर्म और सस्कृति पर निरन्तर आक्रमण हो रहे थे। मूर्तिपूजकों (हिन्दुओं) और मूर्तिभंजकों (मुसलमानों) के संघर्ष में मूर्तिभंजकों को विजय मिल रही थी। इससे निराश से होकर हिन्दू अपनी रक्षा के लिए किसी आश्रय की खोज कर रहे थे। उसी विषम निराशा स्थिति में दक्षिण-भारत से रामानन्द भगवान राम का लोक-रक्षक रूप लेकर उत्तर-भारत में आए। उनके राम के दो रूप हुए—कबीर के निराकार राम और तुलसी के साकार राम। साथ ही दक्षिण से कृष्ण-भक्ति का प्रबल प्रवाह भी उतर-भारत की ओर आया। इन दोनों ने मिलकर समस्त उत्तर-भारत को अपनी शान्तिदायिनी गोद में समेट लिया। रामानन्द ने काशी में रामभक्ति का प्रचार कर भक्ति को जनसाधारण के लिए सुलभ बना दिया। दूसरी ओर चैतन्य महाप्रभु ने बंगाल में तथा वल्लभाचार्य ने ब्रज में कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया। सूर और तुलसी ने इन्हीं के सिद्धान्तों का आश्रय ग्रहण कर कृष्ण-भक्ति और राम-भक्ति की अक्षय-धारा प्रवाहित की जो आज तक निन्तर प्रवहमान है। दक्षिण-भारत से आई इस भक्ति-धारा को ही उत्तर-भारत में सगुण-भक्ति को प्रतिष्ठित करने का गौरव प्राप्त है।

इस सगुण-भक्ति-धारा ने धार्मिक क्षेत्र में जो सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य किया था वह यह था कि इसने उस युग में प्रचलित विभिन्न मत-मतान्तरों, सम्प्रदायों, विकृत उपासना पद्धतियों का विरोध कर एक अखंड, पूर्ण ब्रह्म को उपासना-पद्धति की स्थापना की थी। साथ ही वैष्णवों, शाक्तों, शैवों आदि के पारस्परिक विरोधों और साम्प्रदायिक संकीर्ण द्वेष-भावना का उन्मूलन कर उनमें स्वस्थ समन्वय स्थापित करने का सराहनीय प्रयत्न किया था।

निर्गुण भक्ति की उत्पत्ति के कारण :

कबीर से पूर्व की उत्तर-भारत की धार्मिक स्थिति के परिणामस्वरूप निर्गुण-भक्ति की स्थापना हुई थी। हिन्दी-साहित्य के आदिकाल में समाज पर सिद्धों और नाथपंथियों का गहरा प्रभाव था। इन दोनों ही सम्प्रदायों के अनुयायी प्रायः निम्न जाति के अशास्त्रज्ञ व्यक्ति थे। ये लोग हठयोग की रहस्यपूर्ण बातों और क्रियाओं द्वारा समाज के भोले-भाले, अनपढ़ लोगों को आश्चर्यचकित कर उन पर अपना प्रभाव जमा लेते थे। साथ ही जाति-पाँति, वेद, ब्राह्मण, कर्मकाण्ड, तीर्थ, व्रत आदि का विरोध कर समाज के निम्न वर्ग में उच्च वर्ग के प्रति असन्तोष और विद्रोह की भावना उत्पन्न कर रहे थे। और निम्न वर्ग में निराकार की उपासना का प्रचार करते थे। क्योंकि उनका निराकरण ब्रह्म इन सारे बन्धनों से परे था। परन्तु इस निराकारोपासना की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि यह भक्ति-भावना उत्पन्न करने के लिए हृदय-पक्ष से शून्य था। इस रसहीनता के कारण सन्त और सूफी इसे पूरी तरह से अपनाने में अपने को असमर्थ पाते थे। इस अभाव की पूर्ति महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त नामदेव ने की। उन्होंने उस निराकारोपासना में रागात्मक उपासना का समन्वय कर उसे थोड़ा-बहुत रसमय बना दिया। साथ ही सूफियों की प्रेम-भावना ने उसमें और अधिक सरसता उत्पन्न कर दी। इस प्रकार नाथों के हठयोग, वैष्णवों की सरसता, शंकर के मायावाद, सूफियों की प्रेमभावना आदि के मिश्रित प्रभाव से कबीर ने अपने 'निर्गुण पंथ' की स्थापना कर विभिन्न मत-मतान्तरों के प्रभावों की भूल-भुलैयों में भटकती हुई जनता का उद्धार किया। सूफी-सन्तों पर भी उपासना के इस नए रूप का प्रभाव पड़ा था। कबीर आदि ने बाह्य धर्माचारों के आडम्बरपूर्ण आचारों का खंडन करने के लिए साकार ब्रह्म का विरोध किया और निराकार के प्रति सूफियों की प्रेम-भावना को लेकर एक ऐसी नए प्रकार की भक्ति का प्रचार किया जिसमें साकारोपासना और निराकारोपासना दोनों के ही तत्व विद्यमान थे।

इस काल में हिन्दू-मुस्लिम एकता के भी प्रयत्न हुए। कबीर आदि ने राम और रहीम, कृष्ण और करीम की एकता स्थापित कर दोनों जातियों में धार्मिक एकता उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। दूसरी ओर जायसी आदि मुस्लिम

सूफियों ने हिन्दू-कथाओं के आधार पर प्रेम-कहानियाँ लिखकर हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक एकता का मार्ग प्रशस्त किया। यह समय की माँग थी और हमारे हिन्दी के साधकों ने उसे पूरा करने का प्रयत्न किया था।

निष्कर्ष :

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्तिकाल की सम्पूर्ण धाराओं के उद्गम के मूल में एक अविच्छिन्न सांस्कृतिक और धार्मिक भावना कार्य कर रही थी। इस पर न किसी विदेशी भक्ति-धारा का प्रभाव था और न यह विदेशी शासकों के अत्याचारों से उत्पन्न निराशा की प्रतिक्रिया के रूप में ही प्रकट हुई थी। वीरगाथाकालीन संघर्षपूर्ण वातावरण में यह धारा हमें राज-दरबारों में लिखे गए वीर-रस प्रधान साहित्य के कारण दबी हुई-सी दिखाई देती है। परन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उस काल में भी राज-दरबारों से बाहर जो साहित्य रचा जा रहा था वह एक प्रकार से धार्मिक साहित्य ही था। वीरगाथा काल की समाप्ति पर जब काव्य राज-दरबारों के संकीर्ण वातावरण से मुक्त हो, हटकर पुनः जनता में आया तो बीच में लुप्त सी दिखाई पड़ती भक्ति-भावना अनुकूल अवसर पाकर प्रस्फुटित एवं पल्लवित हो फलवती बनी।

संक्षेप में, दक्षिण की भक्तिधारा ने, जिसका आधार शास्त्रीय विवेचन था, उत्तरी भारत में सगुण भक्ति का बीजारोपण किया। यद्यपि यहाँ शैवों, शाक्तों एवं नारदी-भक्ति-पद्धति के रूप में सगुण-भक्ति पहले से ही प्रचलित थी। परन्तु उसके रूप को व्यवस्थित कर उसे पुनरुज्जीवन प्रदान करने वाली धारा दक्षिण की सगुण भक्ति-धारा ही थी। इस सगुण भक्ति-धारा के दो प्रमुख भेद हुए—कृष्ण भक्ति-धारा और राम-भक्ति धारा। बौद्धमत के ध्वंसावशेषों—सिद्धों एवं नाथों—के प्रभाव से एवं उनकी प्रतिक्रियास्वरूप निर्गुण धारा का आरम्भ हुआ जिसमें सूफियों की सरसता, मायावाद की नीरसता आदि अनेक परस्पर विरोधी तत्त्वों का अदभुत मिश्रण था। निर्गुण भक्तिधारा को हम एक प्रकार से विभिन्न पूर्व एवं समकालीन विचारधाराओं की एक अद्भुत खिचड़ी भी कह सकते हैं। इसके भी दो भेद हुये—ज्ञानमार्गी शाखा तथा प्रेममार्गी शाखा।

प्रश्न २—भक्ति के स्वरूप का विवेचन करते हुये संक्षेप में हिन्दी-साहित्य में उसके विकास पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—गोस्वामी तुलसीदास भक्त-शिरोमणि माने जाते हैं। उन्होंने अपने साहित्य द्वारा राम की साकारोपासना को मूर्त रूप प्रदान किया था। इसलिए तुलसी-साहित्य का अध्ययन करने के लिए हमें पहले भक्ति के स्वरूप और उसके विकास को समझ लेना चाहिए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति का विवेचन करते हुये लिखा है—"भक्ति-मार्ग अपने विशुद्ध रूप में धर्म-भावना का भावात्मक या रसात्मक विकास है। यह विकास उपास्य ईश्वर के स्वरूप की प्रतिष्ठा के उपरान्त ही होता है। स्वरूप की यह प्रतिष्ठा तत्त्व-चिन्तन या ज्ञान की प्रकृत पद्धति के द्वारा ही हो सकती है और सर्वत्र हुई है।"

धर्म के इस अन्तिम रसात्मक पक्ष अर्थात् भक्ति तक मनुष्य का हृदय उपास्य के स्वरूप की उन्नत भावना के उपरान्त पहुँचता है।

शुक्ल जी की उपर्युक्त भक्ति-विषयक व्याख्या को समझने के लिए हमें प्राचीन एवं नवीन विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गई भक्ति की व्याख्या को भी समझ लेना चाहिए।

'भक्ति' का अर्थ और व्याख्या :

'भक्ति' शब्द का शाब्दिक अर्थ है—'भगवान की सेवा करना।' यह शब्द संस्कृत की 'भज सेवायाम्' धातु से बनाया गया है। 'शाण्डिल्य भक्ति सूत्र' के अनुसार 'ईश्वर में अतिशय अनुरक्ति ही भक्ति है'—'सा परानुरक्तिरीश्वरे'। 'नारद भक्ति सूत्र' के अनुसार 'ईश्वर के प्रति परम प्रेम ही भक्ति है'—'स त्वस्मिन परम प्रेम रूपा।' भक्ति के मूलाधार ग्रन्थ श्रीमद्भागवत के अनुसार—'मनुष्यों के लिए सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है जिसके द्वारा भगवान कृष्ण में भक्ति हो, यह भक्ति ऐसी हो जिसमें किसी प्रकार की कामना न हो और जो नित्य निरंतर बनी रहे। ऐसी भक्ति से आनन्द स्वरूप भगवान की उपलब्धि करके भक्त कृत-कृत्य हो जाता है।' 'गोपाल पूर्व तापनी' उपनिषद के अनुसार—'मन को भगवान में पूर्ण रूप से केन्द्रित करके किसी फल की इच्छा किए बिना उनका निरन्तर भजन करना ही भक्ति है।' आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार—'भक्ति भगवान के प्रति अनन्यगामी एकान्त प्रेम का ही नाम है।'

भक्ति-विषयक उपर्युक्त व्याख्याओं और परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति ईश्वर के प्रति निस्वार्थ प्रेम-भावना को कहते हैं ।

कर्म-ज्ञान-भक्ति का पूर्वापर सम्बन्ध :

विकास की दृष्टि से कर्म, ज्ञान और भक्ति का पूर्वापर सम्बन्ध माना जाता है । भक्ति की भावना एकाएक ही उत्पन्न न होकर मानव-विकास के विभिन्न सोपानों की चरम परिणति है । मानव अपने आदिम रूप में कर्म-मार्गी था, सभ्यता का विकास होने पर जब उसने विवेक से कार्य लेना आरम्भ किया तो ज्ञानमार्गी बना और जब ज्ञान द्वारा उसने ईश्वर के स्वरूप की प्रतिष्ठा कर ली तो उस ईश्वर का सामीप्य लाभ करने के लिए वह भक्तिमार्गी बन गया । इस विकास को हमें तनिक विस्तार के साथ समझ लेना चाहिए ।

मानव-विकास के लम्बे इतिहास में मानव की ईश्वर अथवा देवता-विषयक भावनायें क्रमशः उन्नत, व्यापक और परिष्कृत होती चली गई हैं । अपनी आदिम दशा में मानव की दृष्टि में देवता एक ऐसा शासक था जो पूजा करने पर रक्षा और कल्याण करता था तथा पूजा न करने पर क्रुद्ध होकर अनिष्ट करता था । उसकी पूजा के मूल में भय और लोभ की प्रवृत्तियाँ प्रमुख थीं । वनदेवता, ग्रामदेवता, कुलदेवता आदि इसी प्रकार के देवता थे । कुछ अपेक्षाकृत सभ्य जातियों में प्राकृतिक शक्तियों—सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, जल आदि के नाना प्रकार के उपकारों से प्रभावित होकर इनकी उपासना की जाती थी जो उनके प्रति कृतज्ञता का प्रकाशन होता था । उपास्य के इस उपकारी स्वरूप के भीतर ही अखिल विश्व के पालक और रक्षक भगवान के व्यापक स्वरूप की भावना का अंकुर छिपा था ।

एकेश्वरवाद : कर्मकाण्ड का रूप :

कुल-देवता आदि देवताओं की भावना ने ही कालान्तर में 'एकेश्वरवाद' की भावना में विकास पाया । ऋग्वेद में इन सारे देवताओं का तत्त्वदृष्टि से एक में समाहार करके 'ब्रह्मवाद' की प्रतिष्ठा की गई । आगे चल कर जब परलोक की भावना का उदय हुआ तो परलोक के सुख या निःश्रेयस की भी कामना होने लगी । और निःश्रेयस की इस नवीन भावना ने देवताओं की पूजा

से लोकहित को सम्बद्ध कर दिया । प्राचीन काल में किए जाने वाले बड़े-बड़े यज्ञ इसी भावना के प्रतीक थे । यह कर्मकाण्ड का रूप था ।

ज्ञानमार्ग का प्रारम्भ :

वैदिक काल में जिस मननशीलता और भावुकता ने सम्पूर्ण देवताओं के एकत्व की भावना को जन्म दिया था वह आगे चलकर उपनिषद् काल में पूर्णता को पहुँची । इस भावना में सौन्दर्य-भावना और शुद्ध अनुराग के बीज पहले से ही वर्तमान थे जिसने ब्राह्मण-काल में 'नारायण' के रूप में सगुण-ब्रह्म की स्थापना की । और जब आगे चलकर उस समष्टि शक्ति के स्वरूप के परिचय की उत्कंठा उत्पन्न हुई तो चिन्तकों ने अपनी बुद्धि और कल्पना की दौड़ लगानी प्रारम्भ की । यहीं से 'ज्ञानमार्ग' का आरम्भ मानना चाहिए । यही भाव-समन्वित ज्ञान-मार्ग आगे चलकर उपनिषद्-काल में पूर्णता तक पहुँच चुका था ।

ज्ञान के दो रूप :

उपनिषद्-काल मे इस ज्ञान के दो रूप थे । एक हृदय-पक्ष को त्याग केवल बुद्धि या विशुद्ध ज्ञान को लेकर चला, तथा दूसरा हृदय-पक्ष समन्वित ज्ञान को लेकर आगे बढ़ा । पहले ने कर्मकान्ड का पूर्ण विरोध कर मनन या चिन्तन को ही अपना मूलाधार बनाया । इसे 'निवृत्तिपरक ज्ञान-मार्ग' कहा जाता है । दूसरे ने ज्ञान के साथ-साथ निष्काम-कर्म का भी उपदेश दिया । यह 'कर्मपरक ज्ञान-मार्ग' कहलाया । इसमें बुद्धि और हृदय दोनों का समन्वय था । और आगे चल कर इसी से भक्ति का जन्म और विकास हुआ ।

ब्रह्म के दो रूपों की कल्पना :

उपर्युक्त दो ज्ञान-मार्गों के अनुसार ब्रह्म के दो स्वरूपों की कल्पना की गई कहीं ब्रह्म को सगुण और व्यक्त कहा गया और कहीं निर्गुण और अव्यक्त। इसके अतिरिक्त कहीं उसे उभयात्मक अर्थात् व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकार का माना गया । भारतीय भक्ति-मार्ग ब्रह्म के इसी उभयात्मक रूप को लेकर चला जिसमें मूर्त-अमूर्त, व्यक्त-अव्यक्त, चल-अचल आदि दोनों प्रकार की भावनाओं का समान स्थान था । ब्रह्म के ये दोनों ही रूप नित्य और सत्य माने गए । इसी

कारण ब्रह्म के सगुण और व्यक्त-रूप को असत्, भ्रम या मिथ्या नहीं माना गया।

'उपासना' का समावेश :

उपनिषद् काल से पूर्व उपास्य की केवल 'पूजा' की जाती थी। इस पूजा में उपासना की भावना नहीं थी क्योंकि उपासना किसी स्वरूप की ही की जाती है। उपासना की यह भावना पूजा की भावना से अधिक व्यापक और परिष्कृत थी। उपासना द्वारा मानव ब्रह्म के और नजदीक पहुँच गया क्योंकि उसमें व्यक्तित्व और हृदय का योग था। इसी कारण इसे 'कर्म' से अधिक श्रेष्ठ माना गया। 'कर्म' के साथ मन के इस योग में मन की बोधवृत्ति और रागात्मिका वृत्ति दोनों का ही योग था। अर्थात् उसमें ज्ञान और उपासना, बुद्धि-तत्त्व और हृदय-तत्त्व दोनों का मेल था। इसी मेल की भावना से भक्ति-मार्ग का आरम्भ मानना चाहिए। और इसके साथ ही व्यक्ति के सुख की कामना के साथ-साथ लोक-कल्याण की भावना का प्रचार बढ़ा। अतः भक्ति-मार्ग के मूल में व्यक्ति के कल्याण के साथ-साथ लोक-कल्याण की भावना का प्राधान्य रहा।

गीता का निष्काम कर्म-योग :

गीता में निष्काम कर्म तथा कर्म, ज्ञान और उपासना के समन्वय पर अधिक बल दिया गया। 'निष्काम कर्म' से अभिप्राय उन कर्मों से था जो केवल अपने ही कल्याण या लाभ के लिए न किए जाकर लोक की रक्षा, पालन एवं रंजन की दृष्टि से किए जायें। इसमें लोक-कल्याण की भावना अत्यधिक प्रबल थी। और लोक-कल्याण की इस साधना के लिए गीता में उपासना के निमित्त ब्रह्म के सगुण रूप को स्वीकार किया गया। इस सगुण रूप की अभिव्यक्ति लोक की रक्षा, पालन और रंजन करने वाले रूप में हुई। अतः उपास्य के रूप में नारायण या वासुदेव को स्वीकार कर लिया गया। अहिंसा को भागवत धर्म का प्रधान लक्षण लोक-कल्याण की भावना के कारण ही माना गया। ब्रह्म के इस स्वीकृत सगुण रूप में ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दोनों ही रूप समाहित थे। ब्रह्म के इस समन्वित रूप का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना असम्भव था। उसकी केवल उपासना की जा सकती थी। इसी कारण ज्ञान मार्ग की सुनी-सुनाई

बातों के आधार पर ब्रह्म के पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करने का दम्भ अधिक प्रचार न पा सका। यही कारण था कि कबीर आदि की तुलना में सूर-तुलसी अधिक लोकप्रिय बन सके।

माधुर्य पूर्ण उपास्थ की स्थापना :

गीता का उपास्य लोक-रक्षा और लोक-मंगल करने वाली धर्मशक्ति का स्वरूप था। उसमें शक्ति, शील, सौन्दर्य, ऐश्वर्य का समन्वित रूप था। इसी कारण अवतार का हेतु लोक में धर्म की स्थापना करना माना गया था। आगे चलकर गीता के इस भक्ति मार्ग से लोक-धर्म-पक्ष या कर्मपक्ष हटता चला गया और एक ऐसे माधुर्यपूर्ण उपास्य को अपनाया जाने लगा जो अत्यन्त घनिष्ठ प्रेम का अवलम्बन हो सके। भगवान के लोक रक्षक गुण तिरोहित से होने लगे। भागवत में भगवान के इसी माधुर्य रूप की प्रतिष्ठा की गई। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार—

"भागवत ने कृष्ण की वह मधुर मूर्ति सामने रखी जो प्यार करने योग्य हुई—उस ढंग का प्यार जिस ढंग के प्यार को प्रेरणा से माता-पिता अपने बच्चे को दुलारते-पुचकारते हैं, उस ढंग का प्यार जिस ढंग के प्यार की उमङ्ग में प्रेमिका अपने प्रियतम का ललक कर आलिंगन करती है। भागवत ने भगवान को प्यार करने के लिए भक्तों के बीच खड़ा कर दिया।"

भक्ति का कर्म-ज्ञान-समन्वित रूप :

गीता में भक्ति का कर्म-ज्ञान-समन्वित रूप था। वहाँ मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान के द्वारा मानी गई तथा भक्ति को ज्ञान प्राप्ति का साधन माना गया। परन्तु भागवत में भक्ति को सर्वोपरि प्रधानता प्रदान कर उसे साधन न मानकर साध्य माना गया। यहाँ यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्या ज्ञान के बिना भी भक्ति सम्भव है। इसका उत्तर उपनिषदों में मिल जाता है। उपनिषदों ने पहले ब्रह्म के व्यापक स्वरूप का ज्ञान कराकर तब उपासना का मार्ग खोला था। जब ज्ञान द्वारा जाने गए ब्रह्म के स्वरूप की ओर हृदय आकर्षित होता है तभी जीवन की सच्ची साधना प्रारम्भ होती है। ज्ञान द्वारा जाना हुआ ब्रह्म का स्वरूप जैसा होगा उस स्वरूप का भक्त वैसे ही स्वरूप को प्राप्त होगा। इसी कारण भक्ति मार्ग के विभिन्न आचार्य ज्ञानी और भक्त दोनों ही थे।

तुलसी ने ज्ञान और भक्ति में जो किसी प्रकार का विरोध नहीं माना था उसका रहस्य यही था। उपास्य के स्वरूप की प्रतिष्ठा तत्व-चिन्तन या ज्ञान की प्रकृत पद्धति द्वारा ही हो सकती है और भक्ति उपास्य के उसी स्वरूप की जाती है। इसलिये ज्ञान के बिना भक्ति अधूरी है। सूर और तुलसी भक्त होने के साथ-साथ विद्वान भी थे। इसी कारण वे भक्ति का वह स्वरूप उपस्थित करने में पूर्ण सफल हुए जहाँ कबीर आदि को असफलता मिली थी।

भक्ति के विकास का इतिहास

प्रारम्भिक रूप :

वैदिक-धर्म प्राचीन काल से ही दो प्रधान शाखाओं में विकसित होता आया है—शैव मत तथा वैष्णव मत। इन दोनों ही मतों के मूल में भक्ति की धारा निरन्तर प्रवाहित होती चली आई है। परन्तु भक्ति की धारा वैष्णव मत में ही अधिक महत्त्व पाती रही है। वैदिक धर्म का विकास क्रमशः भागवत, सात्वत और पांचरात्र मतों में पाया जाता है। दूसरे शब्दों में इसे विष्णु की उपासना का क्रमिक विकास भी कहा जा सकता है। विष्णु का आदि रूप वेदों में मिलता है। वहाँ विष्णु एक देवता है, साथ ही अन्य देवता भी हैं। परन्तु कालान्तर में अन्य सारे देवता विष्णु में ही समाहित हो जाते हैं। विष्णु में चमत्कार और अलौकिक शक्ति का समावेश होता है और अन्त मे विष्णु को एक सर्वशक्तिमान, लोकरक्षक, सर्वश्रेष्ठ देवता के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया जाता है।

भागवत, सात्वत और पांचरात्र मत :

षट् ऐश्वर्यों से सम्पृक्त होने के कारण विष्णु 'भगवत' कहलाए और उनके उपासक 'भागवत'। महाभारत में विष्णु और वासुदेव-कृष्ण का एकीकरण हो गया। कृष्ण के यादव वंश को 'सात्वत वंश' भी कहा गया इसलिए 'भागवत मत' का दूसरा नाम 'सात्वत मत' भी पड़ गया। गीता इस मत का प्रधान ग्रन्थ है। उसमें भागवत मत का चरम लक्ष्य 'एकान्तिक भक्ति' माना गया है। इस मत का अन्तिम विकसित रूप 'पांचरात्र-मत' में मिलता है। इस मत के उपास्य देव भी 'वासुदेव' अर्थात कृष्ण हैं। इसमें ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों रूप स्वीकृत हैं। इसका मुख्य उद्देश्य भक्ति के साधन-मार्ग का निरूपण करना

रहा। भक्ति को संसार के दुख से मुक्ति का एकमात्र साधन माना गया। और इस भक्ति की प्राप्ति के लिए भगवान की शरणागति अथवा प्रपत्ति को ही प्रधान साधन स्वीकार किया गया। इसके समावेश से भक्ति ने लोकधर्म का स्वरूप धारण कर लिया। और 'शरणागति' की इसी भावना को लेकर परवर्ती आचार्यों ने भक्ति को चरम विकास की सीमा तक पहुँचा दिया।

भक्ति के विकास में विघ्न :

भक्ति के इस विकास में अनेक विघ्न भी आए। जैन, बौद्ध आदि मतों ने भक्ति के मूल स्रोत वेदों का खंडन और विरोध का परिणाम वज्रयान-सहजयान आदि वाममार्गी सम्प्रदायों के रूप में सामने आया। ये सम्प्रदाय लोक-जीवन को विकृत आचरणों और आदर्शभ्रष्ट विकृत उपासना-मार्गों की ओर ले जा रहे थे। फलस्वरूप वैदिक धर्म निष्प्रभ हो उठा। शंकराचार्य ने इस विषय स्थिति में एक ओर प्राचीन औपनिषदिक धर्म की पुनःस्थापना की और दूसरी ओर वेद-विरोधी विचारधारा के नाम पर पनपने वाले कुतर्कमूलक आवेग को रोक कर प्रबल आध्यात्मिक दर्शन का प्रतिपादन किया।

परन्तु शंकर का यह अद्वैतवादी दर्शन साधारण भावुक भक्त हृदय को कोई अवलम्बन न प्रदान कर विद्वानों के वाद-विवाद का ही प्रिय विषय बनकर रह गया। इस स्थिति को देख अनेक आचार्य दार्शनिक दृष्टि से इसका खण्डन करने लगे। इन वैष्णव आचार्यों ने अपने भक्ति-सम्प्रदाय का प्रचार करने के लिये अद्वैतवाद का खंडन करते हुये अनेक सम्प्रदायों की स्थापना की।

विशिष्टाद्वैत मत की स्थापना :

सबसे पहले तमिलनाड के आचार्य नाथमुनि ने विशिष्टाद्वैत मत के दार्शनिक तत्त्वों का प्रतिपादन कर दक्षिण के आलवार भक्तों के लिये दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की। आगे चलकर यामुनाचार्य ने पांचरात्र के सिद्धान्तों तथा 'शरणागति' के तत्त्वों का विशद्-मार्मिक विवेचन किया। आगे चलकर रामानुजाचार्य ने उक्त दोनों आचार्यों द्वारा निर्मित पृष्ठभूमि पर श्रीवैष्णव मत को सुव्यवस्थित रूप प्रदान कर उसका देशव्यापी प्रचार किया। उन्होंने अपने श्री सम्प्रदाय में एक-मात्र विष्णु की आराधना का विधान कर मानवमात्र को भक्ति का अधिकारी घोषित किया। रामानुज के इस सम्प्रदाय का उत्तर-भारत के भक्ति-आन्दोलन

गहरा प्रभाव पड़ा। रामानुज उपासना द्वारा ही जीव की मुक्ति संभव मानते । वे ज्ञान को मुक्ति का साधन न मान भक्ति को ही मानते हैं।

ताद्वैतवाद और द्वैतवाद :

आगे चलकर निम्बार्काचार्य ने द्वैताद्वैतवाद की स्थापना की जिसे सनक-प्रदाय भी कहा जाता है। इन्होंने भी शंकर के अद्वैतवाद का विरोध करते जीव और जगत का अस्तित्व एवं व्यापार ईश्वर की इच्छा पर ही अव-म्बित माना। ईश्वर की कृपा से ही जीव को अपनी प्रकृति का ज्ञान होता । आगे चलकर मध्वाचार्य ने भी शंकर के अद्वैतवाद का तीव्र विरोध करते रामानुज के विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त को अस्वीकार कर अपने द्वैतमत अर्थात ा-सम्प्रदाय की स्थापना की। इन्होंने भक्त और भगवान की पृथकता को ली शर्त माना। इस मत में भक्ति को सर्वोच्च स्थान प्रदान कर उसे 'अमला-क्ति' अर्थात् सर्वथा दोषरहित भक्ति कहा गया और यह भक्ति भगवान की ा होने पर ही प्राप्त होती है। उत्तर-भारत का गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय ्वमत से प्रभावित बताया जाता है। मध्वाचार्य ने ही अपने भक्तिमार्ग में ा की उपासना का सर्वप्रथम विधान किया था और राधा और कृष्ण का ान महत्त्व माना था। इस मत के अनुसार 'प्रेम लक्षणा अनुरागात्मिका परम क' ही साधना का चरम लक्ष्य माना गया है।

ाद्वैतवाद

आगे चलकर वल्लभाचार्य ने विष्णुस्वामी द्वारा प्रवत्तित विचारधारा का ार बनाकर अपने शुद्धाद्वैतवाद की स्थापना की। इसके अनुसार ब्रह्म च्चदानन्द स्वरूप है और अपनी 'ह्लादिनी संविद्' द्वारा 'आश्लिष्ट' है। माया र के अधीन है। जीव अपनी अविद्या द्वारा क्लेश पाता है। वह आनन्द ा करने का अधिकारी है और दुःख भी भोग करता है। अतः ईश्वर और में स्पष्ट भेद है। वल्लभस्वामी का यह शुद्धाद्वैतवाद 'पुष्टिमार्ग' का रूप ण कर हिन्दी के कृष्णभक्तों का प्रधान सम्बल बना।

ास का सिंहावलोकन :

उपर्युक्त सभी आचार्यों ने शंकर के अद्वैतवाद के विरोध में अपने-अपने दायों की स्थापना की थी। इनमें परस्पर भेद होते हुए भी भक्ति के क्षेत्र में

काफी समानता थी । डाक्टर हिरण्मय ने भक्ति के इस विकास को संक्षेप
इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

"श्री सम्प्रदाय की साधना-पद्धति पांचरात्र पर अधिक अवलम्बित थी औ
उसमें शरणागति अथवा प्रपत्ति पर जोर था । निम्बार्काचार्य के सनक-सम्प्रदा
की प्रेम लक्षणा भक्ति का मुख्य आधार राधाकृष्ण की उपासना थी और व
हरिवंश-पुराण, विष्णु-पुराण और महाभारत से प्रभावित थी । मध्वाचार्य क
कृष्णोपासना और विष्णुस्वामी की गोपालोपासना में मनोवेग के विस्तार के लि
कोई गुंजाइश नहीं थी । इसलिए आगे चलकर इसी कृष्णोपासना को अपन
कर वल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु ने उत्तरी भारत में भक्ति-आन्दोलन क
एक नई दिशा की ओर मोड़ दिया । जिसका प्रभाव परवर्ती सभी सम्प्रदा
पर पड़ा । जिस प्रकार आचार्य रामानन्द जी से प्रेरणा और शक्ति पाक
रामोपासना की सगुण और निर्गुण धाराऐं प्रवाहित हुईं उसी प्रकार आचा
वल्लभ और चैतन्य महाप्रभु से स्फूर्ति ग्रहण कर राधाकृष्ण की उपासना
विभिन्न रूप प्रकट हुए ।"

भक्ति के विकास में अन्य विचारधाराओं का योग :

उपर्युक्त दार्शनिक विचारधाराओं के अतिरिक्त अन्य अनेक विचारधारा
का भी भक्ति के विकास में पर्याप्त योग रहा था । वज्रयान, सहजयान, पा
पत मत, योग-परम्परा, सूफी मत आदि ने भी भक्ति-धारा में कई नई बातों
समावेश किया था । सहजयानी सिद्धों ने भ्रष्टाचारी सिद्धान्तों का खंडन क
एक 'सहज' मार्ग का नारा बुलन्द किया । इन्होंने हिन्दू, जैन, बौद्ध आदि
विकृत साधना-पद्धतियों का विरोध करते हुए सहज-साधना का प्रचार किया
ये लोग चित्त-शुद्धि पर विशेष बल देकर सहजावस्था की उपलब्धि को ही पर
पुरुषार्थ मानते थे । इस प्रकार इन सिद्धों ने जीवन में सदाचार, चित्त-शुद्धि त
निर्मल चरित्र को बहुत महत्त्व देकर विभिन्न साधना-मार्गों में छाए भ्रष्टाचा
आडम्बर आदि का विरोध किया था । कबीर आदि सन्त-कवियों पर इस 'सह
यान' का गहरा प्रभाव पड़ा था ।

अद्वैतवाद का प्रभाव :

हमारे सन्त-कवियों पर अद्वैतवाद का भी गहरा प्रभाव था । उनका-ज्ञ

और उपदेश अद्वैत पर आधारित है। ये लोग माया की सत्ता और जीव-ब्रह्म की एकता स्वीकार करते हैं। इस एकता में माया बाधक है। ज्ञान द्वारा इस माया का नाश किया जाता है। ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ये लोग विशिष्टाद्वैतियों की भक्ति-भावना को तो स्वीकार करते हैं परन्तु उनकी द्वैत-भावना को नहीं। इन पर बौद्धों के शून्यवाद का तथा सहजयानियों के सहज-मार्ग का प्रभाव सिद्धान्तों की इसी एकता के आधार पर स्पष्ट होता है।

सूफी मत का प्रभाव :

सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद ने भक्ति-धारा को बहुत-कुछ प्रभावित किया है। सन्तों के नीरस ब्रह्मवाद पर सूफी प्रेमवाद का प्रभाव पड़ने से उसमें सरसता आ गई थी। हठयोगियों के नाथपंथ का भी भक्तिधारा के सन्तों पर काफी गहरा प्रभाव था। उन्होंने हठयोग को ब्रह्म-प्राप्ति का साधन बना लिया था। परन्तु ये सारे प्रभाव गौण ही रहे। भक्ति की सरस धारा में इनका योगदान अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। भक्ति की धारा का वास्तविक विकास तो रामानन्द और वल्लभ स्वामी के प्रचार-प्रयत्न द्वारा ही हुआ था। और उसमें भी सगुण भक्ति-धारा निर्गुण भक्तिधारा की तुलना में अधिक व्यापक और प्रभावशाली रही। निर्गुण भक्तिधारा अपनी नीरसता के कारण साहित्य के सरस क्षेत्र को अधिक प्रभावित न कर सकी। सुर और तुलसी सगुण भक्तिधारा के सबसे समर्थ और प्रभावशाली भक्त-कवि हुए।

सगुण भक्ति के दो रूप :

सगुण भक्ति धारा रामभक्ति और कृष्णभक्ति के दो रूपों में विभक्त होकर प्रवाहित होती रही। विकास की दृष्टि से इन उप-सम्प्रदायों का महत्त्व गौण है। क्योंकि ये भक्ति के मूल स्वरूप को नहीं बदल सके। भक्ति का स्थूल रूप प्रारम्भ से लेकर आज तक लगभग एक-सा ही रहा है। उसका साध्य आज भी वही है जो प्रारम्भ में था। हाँ, साधनों में अवश्य थोड़े-बहुत भेद और परिवर्तन होते चले आए हैं।

इस भक्तिधारा ने हिन्दी-साहित्य को गहरे और व्यापक रूप से प्रभावित किया है। भक्ति-काल का हिन्दी-साहित्य तो पूर्ण रूप से इसी से प्रभावित रहा

है। इसका महत्त्व इसी बात से आँका जा सकता है कि हिन्दी-साहित्य का भक्ति काल हिन्दी-साहित्य का स्वर्ण-युग माना जाता है। सूर और तुलसी इस भक्ति साहित्य के सर्वाधिक सशक्त और समर्थ प्रतिनिधि हैं। भक्ति का यह विवेचन तुलसी-साहित्य को समझने के लिए अत्यन्त आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है। बिना इसे समझे तुलसी-साहित्य को समझना असम्भव है।

प्रश्न ३—अन्तः साक्ष्य एवं बाह्य साक्ष्य के आधार पर तुलसी की जीवन सम्बन्धी सामग्री पर विचार कीजिए।

उत्तर—महाकवि रामभक्तशिरोमणि तुलसीदास की जीवनी के सम्बन्ध में कई वर्षों से गवेषणापूर्ण कार्य हो रहा है परन्तु अभी तक उनके सम्बन्ध में कोई निश्चित सामग्री उपलब्ध नहीं हो सकी है। उनके ग्रन्थों में कुछ जीवन सम्बन्धी घटना-बिन्दु प्राप्त होते हैं, परन्तु वे भी परिचय के रूप में उद्धृत नहीं जान पड़ते। केवल निराश हृदय के भावों और दैन्य-प्रकाशन के लिए व्यक्त किए गये हैं। अपनी कविता में कवि ने अपने व्यक्तित्व का जो चित्र चित्रित किया है वह स्पष्टतः ही प्रामाणिक सिद्ध होता है। जनश्रुति और बाह्यसाक्ष्य में अतिशयोक्ति की सम्भावना रहती है। कवि के काव्य-सौष्ठव को देखकर सहृदय जन प्रशंसा और श्रद्धा के सूत्र में बँध जाते और लौकिक और दैविक शक्तियों का ताना-बाना उसके जीवन के चारों ओर बुन देते हैं। इससे जीवन सम्बन्धी जो बाह्य साक्ष्य उपलब्ध होते हैं वे अप्रामाणिक और असत्य प्रतीत होते हैं। जन-श्रुतियाँ भी प्रायः अंशतः ही प्रामाणिक होती हैं। तुलसीदास के जीवन-सम्बन्धी अन्तःसाक्ष्य की सामग्री का आधार कवितावली, बाहुक और विनय-पत्रिका हैं। इनके पश्चात् मानस, दोहावली, रामाज्ञा प्रश्न, पार्वतीमंगल और बरवै रामायण उनके जीवनवृत्त-सम्बन्धी तथ्यों को स्पष्ट करते हैं। उनके अन्य ग्रन्थों में जीवन-सम्बन्धी कोई सामग्री उपलब्ध नहीं होती।

तुलसी के जन्मकाल के सम्बन्ध में उनके किसी भी ग्रन्थ में कोई वि० [illegible] नहीं मिलता। जनश्रुति तथा अन्य बाह्य साक्ष्यों के अनुसार उनकी मा[illegible] नाम हुलसी और पिता का नाम आत्माराम दुबे था। उन्हें बाल[illegible] ही माता-पिता की प्यार भरी गोद से विलग होना पड़ा और जीवन [illegible] तुरन्त ही तमोमयी सन्ध्या में परिवर्तित हो गया। घर भर में केवल

हज [illegible] रनका-ज्ञा

ग़ादी ही रह गई थी। उच्च-कुल में अवतरित होने पर भी तुलसी आत्म-ग्ला
के वशीभूत होकर अपने को 'मंगन' कुल का बताते हैं। आरम्भ में ये 'तुलसी'
के नाम से ही सुशोभित थे, और कदाचित् वैराग्य धारण करने के पश्चात
उन्होंने अपना नाम तुलसीदास कर लिया हो। प्रायः राम का नाम लेते रहने
के कारण इनका नाम रामबोला भी पड़ गया था, यह विनयपत्रिका से स्पष्ट
होता है। जाति से ये निर्विवाद रूप से ब्राह्मण थे। परन्तु इनका सम्बन्ध
ब्राह्मणों की किस उपजाति से था, यह विवादग्रस्त है। श्री सुधाकर द्विवेदी और
डा० ग्रियर्सन ने उन्हें सरयूपारीण ब्राह्मण सिद्ध किया है। मिश्र बन्धुओं के
अनुसार वे कान्यकुब्ज और 'वार्ता' के अनुसार सनाढ्य ब्राह्मण थे, जिसकी पुष्टि
विनयपत्रिका की निम्न पंक्ति से की गई है—

"दियो सुकुल जन्म शरीर सुन्दर हेतु जो फल चारि को।"

इसके अनुसार उन्हें सुकुल (शुक्ल) कहा गया है जो सनाढ्यों का एक गोत्र
है। जीवन के उषाकाल में ही माता-पिता से वंचित होकर ये अनाथावस्था को
प्राप्त हो गये। इसी कारण इनका बाल और किशोर जीवन दरिद्रता की दलदल
में व्यतीत हुआ। उनके लिए तो चार चने भी चार फलों—धर्म, अर्थ, काम और
मोक्ष के समान थे। बाल-जीवन भिक्षा माँगकर यापन करने के कारण ही सम्भ-
वतः तुलसी ने अपने को 'मंगन' कहा है। इसी समय उनके दीक्षा-गुरु से उनकी
भेंट हुई, जिन्होंने शूकरक्षेत्र में रामकथा का गान किया। परन्तु उस समय
अज्ञानावस्था होने के कारण तुलसी उसका कोई महत्व न जान सके। इस
प्रकार उनका जीवन बराबर अस्त-व्यस्त ही रहा। उन्हें पग-पग पर दरिद्रता
और अपमान की पंकिलता में फँसना पड़ा—

बारे ते ललात बिललात द्वार द्वार दीन,
जानत हों चारि फल चारि ही चनक को।

इसी समय इनका पाणिग्रहण संस्कार हुआ और इनका भावुक हृदय
पत्नी दीनबन्धु पाठक की कन्या रत्नावली की ओर आकृष्ट होकर उत्कट
आसक्त हो गया। दाम्पत्य जीवन पन्द्रह वर्ष तक सुखमय रहा और
... काल-कवलित हो गया। एक बार रत्नावली के मायके चले जाने
... से कठिन विरह को सहन न कर सके और विवश होकर मेघाच्छन्न

रात्रि के निविड़ अंधकार में ही चढ़ी हुई नदी को तैर कर पार किया और मिलन की सुखद कल्पनाओं में डूबे हुए स्त्री के पास जा पहुँचे। प्रेम ही हृत्-तंत्री को झनकार कर उन्हें पत्नी की ओर खींच लाया था। रत्नावली ने उनके इस प्रेमाधिक्य पर व्यंग्य करते हुये उस दिव्य प्रेम की ओर संकेत किया जो जीव को भव-सागर से पार कर देता है—

लाज न आवत आपको दौरे आएहु साथ।
धिक-धिक ऐसे प्रेम को, कहा कहों मैं नाथ॥
अस्थि चर्ममय देह मम, तामें ऐसी प्रीति।
होती जो कहुँ राम में, होति न तो भव भीति॥

इस फटकार से उनके हृदय-तल में गुरु-द्वारा बोये हुये आध्यात्मिक संस्कार के अंकुर प्रस्फुटित हो उठे। स्त्री की हृदय-विदारक और मर्मभेदी वाणी से चोट खाकर ये जीवन की ओर से विमुख और विरक्त हो गये और राम-भक्ति के पथ का अनुसरण करने लगे। इनके विवाह के सम्बन्ध में अनेक समालोचकों का अनुमान है कि "मेरे ब्याह न बरेखी" और "काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब" के आधार पर इनका विवाह नहीं हुआ था। परन्तु 'मेरे ब्याह न बरेखी' का यह तात्पर्य नहीं कि 'मेरा ब्याह या बरेखी' नहीं हुई वरन् 'मेरे यहाँ तो न ब्याह ही होना है और न बरेखी ही' क्योंकि किसी की वेटी से अपना वेटा तो ब्याहना नहीं है। फिर विनय-पत्रिका का यह पद—

लरिकाई बीतो अचेत चित, चंचलता चौगुनी चाय।
जोबन जर जुवति कुपथ्य करि, भयो त्रिदोष भरि मदन बाय॥

स्पष्ट घोषित करता है कि उनका विवाह हुआ था। रत्नावली की व्यंग्य भरी वाणी से और जीवन की कटुता और क्षणभंगुरता से प्रभावित होकर तुलसी वैरागी बन गये थे। इन्होंने वैराग्य-दशा और पर्यटन का अपने ग्रन्थों में विशेष रूप से वर्णन किया है। राम-कथा, जो इन्होंने शूकरक्षेत्र में सुनी थी, आगे जाकर पल्लवित हुई और इन्होंने चित्रकूट, अयोध्या, काशी, सीतावट आदि तीर्थों की यात्राएं कीं और सत्संग एवं शास्त्र-अध्ययन द्वारा अपने ज्ञान का विस्तार किया। उनकी राम-भक्ति की भावना दृढ़ से दृढ़तर होती गई और उनके राम-सम्बन्धी ज्ञान में विकास होता गया। यद्यपि वे दुर्दिनों और दुर्जन